



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, मार्गदर्शन विषय सम्बन्धित  
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के  
चयन किये गये वचनामृत

प्रश्न :- पर्याय से छूटें कैसे ?

उत्तर :- पर्याय से तो छूटे हुए ही हैं। 'त्रिकाली' तो पर्याय में आता ही नहीं। लेकिन पर्याय में एकता कर रखी है - वह एकता, त्रिकाली में थापने की है। १२७.

\*\*\*

परिणाम में बैठकर (त्रिकाली) वस्तु को देखने से वस्तु भिन्न दिखती है। इसलिए परिणाम से भिन्न होनेके लिए वस्तु में बैठकर देखना है, तभी वस्तु में अपनापन (एकत्व) होनेसे पर्याय का कार्य भिन्न दिखने लगेगा; और (-ऐसी) भिन्नता दिखने से पर्याय का नाश होते हुए भी (द्रव्य में) अपनापन तो त्रिकाल ही रहता है; तभी तो पर्याय के नाश होनेसे आकुलता नहीं होगी; और इधर में (त्रिकाली में) बैठने से सुख-शांति बढ़ेगी। १३३.

\*\*\*

असलमें बात यह है कि सबकी सब धारणा तो (अज्ञानी भी) सच्ची कर लेता है, परंतु पर्याय में बैठकर (अहंभाव रखकर) द्रव्य को देखता है, तो द्रव्य जुदा का जुदा पड़ा रहता है। पर्याय में बैठकर द्रव्य को नहीं देखना है, किन्तु द्रव्य में बैठकर द्रव्य को देखना है, तो द्रव्य में अपनापना प्रसर जाता है (- अभेदता होती है।) पर्याय में बैठने से (- एकता करने से) द्रव्य तो दूर ही पड़ा रहता है। १३८.

\*\*\*

पहले विकल्पात्मकता में तो यह निर्णय कर लो कि, परिणाम की अपेक्षा से इधर (अंतर में) ही जमने का है; दूसरा कुछ भी करने का नहीं है। - ऐसे विकल्पात्मक निर्णय का भी अवलंबन नहीं होना चाहिए। और 'मैं तो अपरिणामी हूँ, परिणाम में जाता ही नहीं' - ऐसा अभ्यास होनेपर दृष्टि जम जायेगी। (विकल्पात्मक निर्णय सही होते हुए भी निर्णयरूप परिणाम की मुख्यता नहीं होनी चाहिए; परंतु अपरिणामी निजस्वरूप के प्रति पुरुषार्थ तीव्र होना चाहिए। निर्णय या समझ यथार्थ होनेसे ऐसे यथार्थ परिणाम पर वजन रह जाता है तो वह भी ध्रुव स्वभाव के अवलंबन लेने हेतु प्रतिकूल है।) १६०.

\*\*\*

चाहे जैसी बात व कितनी ही बार कहने में आवे लेकिन 'त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए'। कथन चाहे जैसा आवे, परन्तु यह बात कायम रख करके ही अन्य सब बातें हैं - त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए। १६३.

\*\*\*

कोई तो धारणा कर लेते हैं; कोई धारणा करके रटन करते हैं; लेकिन भाई! धारणा करके क्या तेरे को किसीको दिखाना है कि 'मैं जानकार हूँ'?

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२७८, वर्ष-२४, फरवरी-२०२१

आषाढ कृष्ण ६, शनिवार, दि. ९-७-१९६६, योगसार पर  
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८२ प्रवचन-३०

‘परभावों का त्याग ही संन्यास है।’ त्याग, त्याग। आत्मा में परभावों का त्याग, उसका नाम संन्यास कहो या त्याग कहो या उनका स्वभाव में अभाव है (ऐसा कहो)। सर्व विकार, पुण्य-पाप का आत्मा में अभाव है। ऐसे आत्मा में दृष्टि होने से आत्मा में विकार का त्याग हुआ। कोई कहता है न कि चौथे गुणस्थान में (विकार का) त्याग नहीं है, सम्यग्दर्शन में त्याग नहीं है। (यहाँ पर) त्याग आया, देखो! ‘जो परयाणइ अप्प परु, सो परु चयइ णिभंतु’ जो कोई आत्मा, अपने आत्मा का स्वरूप शुद्ध आनन्द है, पर का स्वरूप, विकार और पर अजीव आदि है - ऐसा दोनों का भेदज्ञान जानता है, वह पर को दृष्टि में से छोड़ता है। दृष्टि में से छोड़ता है - ‘परयाणइ’। वह आदर नहीं करता। धर्मी जीव, अपना शुद्धस्वरूप आनन्द है, उसका आदर करता है और विकार तथा संयोग का आदर नहीं करता। आदर नहीं करता इसका अर्थ, इसका संन्यास हुआ, दृष्टि में उसका त्याग हुआ। समझ में आया?

यहाँ यह आया, देखो! धर्मी जीव विचारता है। ‘मेरा कोई सम्बन्ध न अन्य आत्माओं के साथ है, न पुद्गल के किसी परमाणु या स्कन्ध के साथ है।’ आत्मा है आत्मा, वह तो शुद्ध अरूपी आनन्दघन आत्मा है - ऐसे आत्मा की दृष्टि करनेवाला

(विचार करता है कि) मेरा पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य आत्माओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, न पुद्गल के एक रजकण या स्कन्ध / पिण्ड के साथ भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सम्यग्दर्शन के काल में (विचारता है) है तो तीनों काल (अभाव)। आत्मा में विकार और पर का त्रिकाल अभाव है परन्तु दृष्टि में आया, तब वर्तमान पर का त्याग दृष्टि में हो गया। कहो, समझ में आया? ठीक है? किसी की चीज लाते हैं, बाहर से लाते हैं न? अपने पुत्र का विवाह होवे तो लाते हैं, घर में रखते हैं; क्या उसे अपनी पूँजी में गिनते हैं? घर में पुत्र का कोई विवाह आदि का प्रसंग हो और (कोई चीज) लावे, पाँच हजार-दस हजार का गहना ले आवे तो उसे अपनी पूँजी में गिनते हैं?

मुमुक्षु : वह माँगकर लाये हैं?

उत्तर : यह (भी) माँगकर, मँगनी का है; आत्मा में है नहीं। आहा...हा...! गहना माँगकर मँगनी का (लाये हैं), आगन्तुक है विकार-अपनी पर्याय में पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वे आगन्तुक हैं, मेहमान है, स्थायी चीज नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? माँगीलालजी! यह त्यागी...। आहा...हा...!

मुमुक्षु : किसके (त्यागी)?

उत्तर : राग के। अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप, मेरा

पूर्णानन्दस्वभाव है - ऐसी धर्मी की दृष्टि हुई है। धर्मी की दृष्टि ऐसी होती है कि मैं तो शुद्ध ज्ञायक और आनन्द हूँ। मुझ में इस राग और परमाणु का कोई सम्बन्ध नहीं है और दूसरे आत्मा के साथ भी मुझे सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया?

‘न धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य के साथ है। न तो मुझमें आठ कर्म हैं न शरीरादि है...’ अभी, हाँ! ‘न रागादि भाव है न मुझमें इन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा है।’ देखो!

इन्द्रिय के सुख की अभिलाषा, सुखबुद्धि से होवे तो मिथ्यादृष्टि है। इन्द्रियाँ - पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि की अभिलाषा मिथ्यादृष्टि को होती है। ज्ञानी को किञ्चित् राग आता है परन्तु उसमें सुखबुद्धि नहीं, अभिलाषा नहीं, कि सुख है और उस सुख को मैं भोगूँ, धर्मी को ऐसा भाव (सुखबुद्धि नहीं है)। इन्द्रिय के विषयसुख में सुखबुद्धि का त्याग है। समझ में आया? लो! यह त्याग हुआ या नहीं? देखो!

‘न मुझमें इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा है न मैं इन्द्रिय सुख को सुख जानता हूँ।’ सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? अपने में आनन्द है, आत्मा में आनन्द है, वही मेरी चीज है। समझ में आया? यह आगे (गाथा-८५ में) आयेगा। ‘जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण केवली बोले एम।’ फिर आयेगा केवली भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि जहाँ चैतन्य, चैतन्य चैतन्य, ज्ञायक ज्ञायक भाव से आत्मा है, वहाँ सभी अनन्त गुण हैं। राग में, शरीर में, कर्म में, पर में अपना कोई गुण और अपनी दशा पर में नहीं है। समझ में आया?

‘न मैं इन्द्रियसुख को सुख जानता हूँ।’ आहा...हा...! चक्रवर्ती राजा हो, छियानवें हजार स्त्री



हों... समझ में आया? परन्तु पर में सुखबुद्धि नहीं है। उनमें सुख है - ऐसी बुद्धि नहीं है, तब सम्यग्दर्शन है। उनमें सुख है (ऐसा माने तो) उनमें सुख नहीं है और सुख बुद्धि मानता है वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! कहो, बल्लभदासभाई! दिखता है, विषय में-भोग में दिखता है परन्तु अन्तर में सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि में आत्मा में अतीन्द्रिय सुख मुझमें ही है (- ऐसा है) उस दृष्टि में पुरुषार्थ की कितनी जागृति है! मुझ आत्मा में आनन्द है, इन्द्रियसुख को मैं सुख मानता

ही नहीं, वह तो दुःख है, जहर है, उपसर्ग है। आहा...हा...! समझ में आया?

‘मैं अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख को सच्चा ज्ञान और सुख जानता हूँ।’ देखो! सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा का अतीन्द्रियज्ञान है, उस अतीन्द्रिय ज्ञान को ज्ञान जानता है। शास्त्रज्ञान, लौकिक ज्ञान को सम्यग्दृष्टि धर्मी ज्ञान नहीं जानता। समझ में आया? ‘और न सुख जानता हूँ।’ समझ में आया? अतीन्द्रियसुख को ही सच्चा ज्ञान और सुख जानता हूँ। आत्मा में मन से पार, राग से अतीत-भिन्न भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है। सम्यग्दृष्टि धर्मी ‘मुझमें आनन्द है - ऐसा मानता है।’ आहा...हा...! (यह) भेदज्ञान है। इन्द्रियसुख को सुख नहीं जानता, अतीन्द्रियसुख को सुख (जानता है)। इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान नहीं (जानता), अतीन्द्रियज्ञान को ज्ञान (जानता है)। परवस्तु से पृथक्, मेरे ज्ञानस्वभाव से मैं अपृथक् / अभेद हूँ। समझ में आया?

‘इसीलिए मेरा धन मेरे पास है।’ लो! यह लक्ष्मी के पीछे दौड़ते हैं न? धर्मी अपना धन अपने में देखता है, उसके पास दौड़ता है। दौड़ता है, कहते हैं न?

समझ में आया? गृहस्थाश्रम में हो, पुरुष हो, स्त्री हो, या आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि बालिका हो परन्तु अपने आत्मा में आनन्द है, उसे लेने के लिये अन्दर दौड़ते हैं। कदाचित् विवाह भी हो जाये, बड़ी होवे तो विवाह भी करे, (परन्तु जानती है कि) नहीं, उसमें आनन्द नहीं है। आनन्द लेने के लिए मैं विवाह नहीं करती; मुझमें ऐसा राग है, वह दूर नहीं होता; मेरी कमजोरी से वह दुःख आता है - ऐसे दुःख से उसमें जुड़ान होता है। समझ में आया? 'मेरा धन मेरे पास है।' देखो, मलूकचन्दभाई! उस लक्ष्मी की आवश्यकता नहीं रही। मेरे आत्मा में अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द पड़ा है। (ऐसी) मेरी लक्ष्मी मेरे पास है।

सम्यग्दृष्टि इतना छोटा मेढक हो या हजार योजन का मच्छ हो.... स्वयंभूरमण समुद्र में सम्यग्दृष्टि होते हैं, हाँ! वे मानते हैं कि मेरी लक्ष्मी मेरे पास है। आहा...हा...! मेरा धन, पुण्य-पाप का भाव होता है, उसमें भी मेरा धन नहीं है और बाहर में पुण्य-पाप का फल बाहर में संयोग प्राप्त हो, उसमें भी मैं नहीं हूँ; मेरी लक्ष्मी उसमें है ही नहीं। ओ...हो...! समझ में आया?

'इस प्रकार सम्यग्दृष्टि त्यागी...' देखो! इस प्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में होने पर भी 'त्यागी, श्रद्धा और ज्ञान परिणति की अपेक्षा से परम सन्यासी है...' श्रद्धा, ज्ञान की परिणति की अपेक्षा से... देखो! पर्याय। अपना शुद्धस्वभाव, मैं आत्मा हूँ - ऐसी श्रद्धा और मैं ज्ञान हूँ - ऐसी पर्याय में परिणति, ऐसी अवस्था के कारण से आत्मा में पर का परम त्यागी है। आहा...हा...! उसे (अज्ञानी को) चुभता है कि नहीं... नहीं। अरे! सुन तो सही, प्रभु! जहाँ भ्रान्ति गयी और अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ, वहाँ पर का स्वामीपना गया। अपना सहजात्मस्वरूप का स्वामी रहा तो दृष्टि में पर का त्यागी हुआ। है? सहजात्मस्वरूप चैतन्यस्वामी। मैं तो सहजात्मस्वरूप चैतन्यस्वामी हूँ। रागादि मेरी चीज है, वह स्व और मैं उसका स्वामी (-

ऐसा) नहीं है। सम्यग्दर्शन में रागादि का इतना त्याग दृष्टि में और ज्ञान की परिणति में आ जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

बाहर का त्याग करके बाहर से साधु हो जाये परन्तु अन्तर में अपनी शुद्ध श्रद्धा, अपनी परमानन्द की मूर्ति की श्रद्धा नहीं है तो राग की दया-दान की क्रिया को अपनी मानता है। कहते हैं कि वह तो मूढ़ है। राग का आदर करता है तो राग का आंशिक भी त्याग नहीं है। समझ में आया? राग - दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उत्पन्न होता है, वह कषाय का मन्दपरिणाम अपने स्वरूप से बाहर है। उस बाह्य को अपना मानता है और उससे लाभ मानता है, उसे आंशिक भी राग का त्याग नहीं तो बाह्य पदार्थ का असद्भूत व्यवहारनय से त्याग कहने में आवे वैसा भी त्याग वहाँ नहीं है। समझ में आया?

'जैसे कोई प्रवीण पुरुष...' प्रवीण पुरुष। 'अपने अन्दर होनेवाले रोगों को पहचानकर...' अपने शरीर में अन्दर रोगादि हों और ख्याल में आ जाये कि अन्दर में रोग है। यहाँ दुखता है या ऐसा होता है - ऐसा नहीं कहते? 'रोगों को पहचानकर...' कितने ही (रोगों को) डॉक्टर खोज नहीं कर सके परन्तु रोगी तो जानता है या नहीं कि मुझे रोग है, अन्दर में दुःख है। मैं भी कुछ पकड़ नहीं सकता परन्तु अन्दर दुःख होता है, अन्दर में गहरे... गहरे... गहरे... दुःख होता है। 'ऐसे रोगों को पहचानकर और उनसे अपना अहित होता जानकर उन रोगों के प्रति सम्पूर्ण उदासीन हो जाता है...' रोगों से उदासीन हो जाता है या रोग का आदर करता है? है?

'इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विशिष्ट कर्मों के संयोग से होनेवाले रागादिभाव और शरीरादि रोगों को रोग और आत्मा के लिए हानिकारक जानकर...' देखो! मिथ्यादृष्टि राग से लाभ मानते हैं और शरीरादि बाह्य साधन को अपने में साधन मानते हैं।

सम्यग्दृष्टि, अपने में राग होता है, उसे दुःख / रोग जानता है और रोग के त्याग का उपाय करता है। रोग रखने का उपाय नहीं करता। रहने दो, रोग रहने दो ऐसा करता है?

मुमुक्षु : शरीर के लिए क्या मानता है?

उत्तर : शरीर के लिए जड़, अपने से भिन्न लकड़ी है - ऐसा मानता है। पहले आ गया है कि मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। 'न पुद्गल के किसी परमाणु या स्कन्ध के साथ (सम्बन्ध) है।' लकड़ी, लकड़ी। जैसे लकड़ी है, वैसे शरीर है। मेरे आत्मा की चीज में उसका कोई स्पर्श नहीं है। आहा...हा...! अज्ञानी को शरीर में जरा (कुछ होवे तो ऐसा मानता है कि) अरे...! मुझे हुआ, मुझमें हुआ। मुझे हुआ और मुझमें हुआ (ऐसा मानता है)। तुझमें कहाँ होता है? वह तो जड़ में है। समझ में आया? यह तो 'परभावों का त्याग ही सन्यास...' है, यह (बात) चलता है न? 'परभावों का त्याग ही सन्यास...' है। पहले यह स्पष्ट किया।

'जैसे अज्ञानी रोग को रोग जानकर रोग का त्याग करने का उपाय करता है, वैसे ही धर्मी निरोग आत्मा...' 'आरोग्य वोहि लाभ' ऐसा आता है, 'लोगस्स' में आता है - 'आरोग्य वोहि लाभ' मेरा आरोग्यपना बोधिलाभ है। मैं शुद्ध चैतन्य रागरहित शरीररहित हूँ। ऐसी अपनी स्वरूप की रुचि - दृष्टि होवे, उसका नाम 'आरोग्य वोहि लाभ' है। निरोगता-बोधि का लाभ होना, उसका नाम आरोग्यता का लाभ है और राग मेरा, शरीर मेरा है, उससे मुझे लाभ होता है (-ऐसा जो मानता है उसे) बड़ी भ्रान्ति का, सन्निपात का रोग लागू पड़ा है।

मुमुक्षु : त्याग का माहात्म्य है?

उत्तर : त्याग का तो माहात्म्य कहते हैं। यह क्या कहते हैं? यह बात तो करते हैं। क्या कहा? अन्दर में रोग होवे तो अज्ञानी रोग को जानता है या नहीं? रोग को छोड़ने का उपाय करता है या नहीं? ऐसे अन्दर में रोग

है, वह मेरा है और मैं उसका हूँ। इस प्रकार अन्दर में रोग है वह मेरा है और मैं उसका हूँ - ऐसे रोग को छोड़ने का उपाय करे या उसे रखने का उपाय करे? छोड़ने का। राग को छोड़ने का इलाज करे, रखने का इलाज नहीं करे, समझ में आया?

'उसके प्रति पूर्ण वैरागी हो जाता है...' लो! आहा...हा...! शरीर में रोग के ढेर हों तो प्रसन्न होता है? शरीर में सोलह रोग, लो! सोलह रोग। समझ में आया? नारकी को सोलह रोग एक साथ (होते हैं)। सम्यग्दर्शन है तो जानता है कि मुझे रोग ही नहीं हैं, इस शरीर में है मुझमें नहीं। अज्ञानी जानता है कि रोग मुझे हुआ, मुझमें हुआ। अज्ञानी होवे तो भी रोग रखने का उपाय करता है? समझ में आया? ऐसे ही धर्मी में पुण्य-पाप का भाव होता है, वह रोग है, फुंसी है, फुंसी। आहा...हा...! समझ में आया? उसे (पुण्य को) तो ऐसा गले पकड़ा है, पुण्य का भाव, हाँ! गले पकड़ा है। पुण्य कहाँ था तेरे? सुन न! ओहो...हो...! पवित्रता, भगवान आत्मा अकेला पवित्रता का पिण्ड प्रभु, उसकी दृष्टि का (जिसे) अभाव है, उसे पुण्य-पाप का आदर करने का भाव है, ज्ञानी को नहीं। समझ में आया?

'रागादिभाव और शरीरादि रोगों को रोग और आत्मा के लिए हानिकारक जानकर उनके प्रति पूर्ण वैरागी हो जाता है।' उनकी साज सम्हाल करूँ तो मुझे ठीक (होगा), ऐसा नहीं मानता। विकल्प आता है परन्तु वह विकल्प भी निरर्थक है। मेरे शरीर की व्यवस्था उस विकल्प से होती है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? 'अब रोग मिटाने का उद्यम करना ही रोगी के लिए बाकी रहता है।' जिसे रोग जाना उसका निवारण करने की भावना (बाकी) रही।

'इसलिए प्रवीण रोगी बहुत भावपूर्वक प्रवीण वैद्य द्वारा बतलाई गयी...' देखो! दोनों लिए हैं - एक तो प्रवीण रोगी, उसे पता है कि यह रोग है।

भानरहित मूढ होवे उसे पता भी नहीं होता कि यह रोग है या नहीं? प्रवीण रोगी और 'बहुत भावपूर्वक प्रवीण वैद्य द्वारा...' ज्ञानी द्वारा 'बतलाई गयी औषधि...' जो यह तेरी चीज में रागादि-पुण्यादि होते हैं, वह तुझे रोग है। समझ में आया? 'औषधि का सेवन करके धीरे-धीरे निरोगी हो जाता है।'

'उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहनीय के विकारों को दूर करने के लिए...' चारित्रमोह के निमित्त से राग का रोग होता है। राग का रोग, शुभराग का रोग, अशुभराग का रोग। आहा...हा...! धर्मी की दृष्टि कहाँ है और कहाँ से उठ गयी है! (वह बताते हैं)। विकार से दृष्टि उठ गयी है। मेरे चैतन्य में विकार है ही नहीं। विकार को रोग जानकर उसे छोड़ने का, मिटाने का उपाय करता है या रखने का (करता है)? यह (अज्ञानी) तो कहता है शुभराग रखो, शुभराग से धर्म होगा। यहाँ तो कहते हैं, शुभराग आता है (तो उसे) रोग के समान जानकर धर्मी उसे छोड़ने का उपाय करता है। कहो, यह तो सादी बात है। समझ में आता है या नहीं? भाई! सरल बात है।

शरीर में रोग होवे तो रोग रखने की इच्छा है? दवा की बोटलें भर के रखो, दवा भर के रखो, भाई! बहुत दवा रखो, अपने को रोग रखना है और रोग ऊपर की दवा भी रखो। अरे...! चल... चल...! भाईसाहब! रोग आज ही मिट जाए तो दवा-फवा कौन करे? वह तो रोग जानता है।

इसी प्रकार धर्मी, धर्म उसे कहते हैं कि अपनी आत्मा में धर्मी ने अतीन्द्रिय आनन्द माना है और राग-पुण्य, दया-दान-व्रत का भाव आता है, उसे धर्मी रोग जानता है। आहा...हा...! अरे...! भगवान... और राग को मिटाने का उपाय करता है तथा मिटाने का उपाय भी (यह है कि) अपने स्वरूप में एकाग्रता करना, वह मिटाने का उपाय है। समझ में आया? दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मुमुक्षु : इसका नाम त्याग, बाहर का...

उत्तर : फिर स्थिरता होती है तो क्रम-क्रम से राग घट जाता है, उतना निमित्त का संयोग छूट जाता है, बस! यह त्याग हुआ। बाहर का त्याग क्या? बाहर की वस्तु क्या (अन्दर) घुस गयी है तो त्याग करना है? राग-द्वेष का विकार अपनी पर्याय में है, उसे अपना मानता है, उसे छोड़ दे। अपना (स्वरूप) आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य है, उसकी दृष्टि कर तो दृष्टि और ज्ञान की परिणति में राग का त्याग हो जाएगा। पश्चात् जितनी स्वरूप में स्थिरता होगी, उतना राग / अस्थिरता मिट जायेगी, उतना संयोग निमित्त से तेरा लक्ष्य छूट जाएगा। जहाँ करना है वहाँ कर न, जहाँ नहीं करना वहाँ करने जाता है। छोड़ो बाहर की चीज। अन्य कहते हैं, बाहर की चीज छूटे तो राग छूटता है - ऐसा कहते हैं। लो!

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है।

उत्तर : आता है, उसका अर्थ क्या? पर का लक्ष्य छोड़ दे, दूसरा क्या है? यहाँ आत्मा में लक्ष्य कर। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पड़ा है। चैतन्यमूर्ति, अतीन्द्रिय आनन्द निकाल (प्रगट कर), अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... निकालेगा तो भी वहाँ कमी नहीं होगी। आहा...हा...! इतने अतीन्द्रिय आनन्द की खान आत्मा है।

जैसे यह ज्ञान, ज्ञानमय है। यह आत्मा जैसे ज्ञान, ज्ञानमय है, वैसे वह अतीन्द्रिय आनन्दमय है। पुण्य-पाप रागमय आत्मा है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? प्रवीणभाई! देखो, यहाँ प्रवीण रोगी और प्रवीण (वैद्य) दोनों लिए हैं। दोनों (प्रवीण होने) चाहिए। उस रोगी को भान होना चाहिए कि कौन-सा रोग है? कुछ का कुछ बतावे तो वह सारे रोग कहाँ पकड़ सकेगा? बहुत जाँच करावे कि हमें यहाँ दुःखता है। यह बेन नहीं? जगजीवनभाई की पुत्री ने बहुतों को बताया परन्तु

(प्रवचन का शेष अंश पृष्ठ-१७ पर)



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार  
ग्रंथके वचनामृत-१९६ पर भाववाही  
प्रवचन, दि. २४-३-१९८३, प्रवचन  
क्रमांक-७८ (विषय : मार्गदर्शन)

कोई क्रोधमें तन्मय हो और कहे कि मैं  
क्रोधका ज्ञाता हूँ, तो यह गलत है—क्योंकि  
वह तो क्रोधमें तन्मय है (क्रोधका) ज्ञाता नहीं  
है। जो ज्ञानमें तन्मय है वही क्रोधके परिणामका  
ज्ञाता है। १९६.

(३१:४० मिनट से)

१९६. 'कोई क्रोधमें तन्मय हो और कहे कि मैं क्रोधका ज्ञाता हूँ, तो यह गलत है—क्योंकि वह तो क्रोधमें तन्मय है...' ये बोलने लगते हैं न। परमागमके वीतरागताको प्राप्त करानेवाले सिद्धांत हैं, परमशांतिरसका मूल हैं वे, इस बातकी गंभीरता नहीं समझकर, क्रोध करता जाये और ऐसा कहे कि मैं तो क्रोधका ज्ञाता हूँ। कहते हैं कि, ऐसा नहीं है, भाई! ऐसा बोलनेमें तत्त्वका खून होता है। जैसे सिद्धांत टूट जाये तो तत्त्वका खून होता है, वैसे यहाँ तत्त्वका खून होता है। एक-एक बात जो गुरुदेव करके गये हैं वह बहुत कीमती बातें करके गये हैं। अभी तो जैसे-जैसे समय बीतेगा, वैसे-वैसे उसकी कीमत होगी।

मुमुक्षु :— समय बीतने पर कीमत आयेगी।

पूज्य भाईश्री :— उसका कारण कि अभी तो वाणी मिल रही है, कुछ उपलब्धि है। फिर तो ऐसे जीव हैं कि जिनको संयोग नहीं हुआ था, देखा नहीं था, सुना नहीं था, उनको ऐसा लगेगा, अरे..! आपने सुना था? आपने देखा था? हमारे तो नसीब में नहीं था और उन

दिनोंमें तो हमारा जन्म भी नहीं हुआ था। आगे जाकर यह परिस्थिति आयेगी। ऐसा श्रीमद्गी के समयमें हुआ था। बहुत लोग पछताये, बहुत लोग पछताये। बादमें साहित्य बाहर आया तब बहुत लोग पछताये कि अरे..! हमने दूरसे उनके बारेमें सच्ची-जूठी बातें अफवाएँ सुनी उसे मान लिया और संकल्प करनेकी दरकार नहीं की, उपेक्षा की और समय चूक गये, समय चूक गये।

क्या होता है? कि यह जगत इतना हलका है कि संतमें, संतपुरुष हो तो भी उस संत आत्माके लिये भी अनेक प्रकारकी बातें करनेमें थोड़ा भी हिचकिचाते नहीं। ऐसी विचित्रता है। फलतः क्या होता है कि कितने ही दूर रहनेवाले हलुकर्मी जीव हो तो भी उस कालमें पात्रताके अभावके कारण ऐसी बातोंमें आ जाते हैं। मान लेते हैं। अंततः उनका संपर्क करना, उनका समागम करना वह समय चूक जाते हैं। जिसकी कीमत न हो सके ऐसी अमूल्य सत्समागमकी पल खो बैठते हैं। खलास हो गया, बादमें तो कुछ पता लगे ऐसा नहीं है। ऐसी परिस्थिति आती है।

क्या कहते हैं? 'कोई क्रोधमें तन्मय हो और

कहे कि मैं क्रोधका ज्ञाता हूँ, तो यह गलत है—  
—क्योंकि वह तो क्रोधमें तन्मय है...’ तन्मय हो गया है, लीन हो गया है वह तो। ज्ञाताभाव रहे वह तो क्रोधादि भावसे भिन्नपने स्वयंका ज्ञातारूप अनुभव करता है। भले ही वह अनुभव लब्धमें है परंतु प्रगट है, मुख्य अनुभव है। जो ज्ञानधारा और कर्मधारारूप दो प्रकारकी धारा (है), जिसे स्वभावधारा और विभावधारा कहते हैं, ये दोनों प्रकारके भाव साधक अवस्थामें साधकको विद्यमान हैं। उसमें मुख्यरूपसे अनुभव स्वभावका है और गौणपने विभावका अनुभव है। ऐसा है। अतः जो ज्ञाता रहता है वह क्रोधसे भिन्न स्वयंके ज्ञातास्वभावका मुख्य अनुभव करता है और क्रोधादिभाव उसकी अवस्थामें है उसे गौण कर देता है और अनुभव करता है। उसकी अवस्थामें है इसलिये अनुभव नहीं हो यह सवाल नहीं है। फिर भी उसका, ‘इसे मैं करता हूँ’ ऐसे तन्मयभावसे अनुभव नहीं करता। धर्मी जीव धर्मात्मा, विभाव अंशको अपना जानकर, अपनत्व करके तन्मय होकर उसका अनुभव नहीं करते। यह उनकी विशेषता है।

तब ऐसा कहते हैं कि हम क्रोधके ज्ञाता हैं। क्रोध हुआ उसमें मैंने नहीं किया, करवाया नहीं, ठीक हुआ, अच्छा हुआ, करना चाहिये, किये बिना चलता नहीं ऐसा अनुमोदन भी नहीं है। उससे भिन्न हम ज्ञाता हैं कि हमारा ज्ञानस्वरूप पलटकर, संक्रमित होकर क्रोधरूप कभी नहीं होता। सदा ज्ञाता रहते हैं ऐसा कहते हैं।

परन्तु स्वच्छंद होता है, जब समझनकी विपरीतता होती है और उसमें भी तत्त्वज्ञानका विषय पढ़कर, सुनकर सीख ले और उस तत्त्वज्ञानके विषयको यथार्थपने ग्रहण करके परिणामकी शुद्धिके लिये उसका अभ्यास शुरू न हो, ऐसी प्रक्रिया एवं उस प्रकारके प्रोसेसमें न आये और जो भी जाना है, सुना है, कंठस्थ किया हुआ और धारणामें, स्मृतिमें है उसका उपयोग बचाव करनेमें करे

कि हम तो ज्ञातादृष्टा हैं। हम कुछ नहीं करते, हम तो ज्ञातादृष्टा हैं। आत्मा क्रोध नहीं करता, आप नहीं समझते। कहते हैं कि भाई! तेरा स्वच्छंद तीव्र हो गया है। सुन-सुनकर तेरा प्याला फट गया है, ऐसा कहते हैं। यह बात बिल्कुल अनुकूल नहीं है।

मुमुक्षु :— निश्चयाभासी...

पूज्य भाईश्री :— निश्चयाभासी है। बहुत विपरीतता आ गयी है। उसमें बहुत विपरीतता आ गयी है। ऐसा कहना चाहते हैं। सब कहकर गये हैं। कहनेमें कुछ बाकी नहीं रखा। जो-जो बातें और जो-जो सिद्धांत वीतरागताके स्थापित किये हैं, वह-वह बात कहनेमें उसमेंसे ऐसा विपर्यास नहीं होना चाहिये, यह लालबत्ती भी रखकर गये हैं। अनेक जगह रेड सिग्नल रखे हैं कि देखना, कहीं ऐसा न हो जाये। चलते-चलते इस ओर मत चले जाना वहाँ खतरा है, भय है। वहाँ निगोदकी खाईमें कूदनेपर कहाँ जाओगे पता नहीं लगेगा। बहुत बातें आयी हैं।

मुमुक्षु :— ये तीनों बोल वही आये न।

पूज्य भाईश्री :— हाँ, सब उस विषयमें ही है।

तीर्थकरद्रव्य था न! गुरुदेवश्रीका तो तीर्थकरद्रव्य था, इसलिये कहनेकी पद्धतिमें भी जिस विषयको हाथमें ले (उसे) मानों तादृश्य करके उसका चितार खड़ा करते थे। और उसके सभी पहलू चारों ओरसे स्पष्ट करे। ऐसा प्रकार है। अतः सब बातें की है।

कहते हैं कि वह जीव, ‘क्रोधमें तन्मय है (क्रोधका) ज्ञाता नहीं है।’ क्रोधमें तन्मय हुआ जीव ऐसी बात करे, कहते हैं कि गलत बात है। वह जूठा है, गलत है। वास्तवमें वह कर्ता है। क्रोधका कर्ता होकर परिणामता है और बचाव करता है कि मैं ज्ञाता हूँ। क्रमबद्धमें ऐसी गड़बड़ी करते हैं। सब क्रमबद्ध है। उसे अनुकूल हो ऐसा प्रसंग न हो, तब तो आकुलता समाती नहीं। बाहरमें अन्य भी जाने इस तरह आकुलित होकर परिणाम परिणमे। पुनः उसको ऐसा पूछो कि यह क्रमबद्ध



है न? तो कहता है कि वह तो ऐसा होना भी हमारे क्रमबद्धमें है। चल भाई चल। यह तेरा स्वच्छंद तीव्र हो गया है, दूसरा कुछ नहीं है।

भाई! वह क्रमबद्ध तो ऐसा है कि अंदर, ज्ञायक हूँ, उसमें स्थिर कर दे ऐसा वह क्रमबद्ध है। समस्त परिणामकी उपेक्षा। यदि पर्यायोंकी क्रमबद्धता समझमें आये अथवा उसकी क्रमनियमितता समझमें आये, जीव उपेक्षित हो जाये। उसके बजाय पूर्णरूपसे तन्मय होकर, आकुलतामें तन्मय होकर, तीव्र कषायमें तन्मय होकर परिणामित हो और ऐसा कहे कि परिणाम क्रमबद्ध है, वह भी क्रमबद्ध है। कहते हैं कि, तू कुछ समझता नहीं। उस विषय का एक अंश भी स्पर्श नहीं हुआ। ऐसा विषय है।

परिणाम क्रमबद्ध है उसमें तीव्र कषाय तो दूर रहो, मंद कषायकी भी अपेक्षा नहीं होती, उपेक्षा हो जाती है। अरे..! शुद्धिका अंश उत्पन्न होता है उसकी भी उपेक्षा हो जाती है और अपेक्षा नहीं होती। ऐसा जो सिद्धांत है कि जो जीवको ध्रुवके अवलंबनमें ले आता है। वह तीव्र कषायके अवलंबनमें पड़ा हो और क्रमबद्ध कहे, यह बहुत बड़ा विपर्यास होता है। जबरदस्त विपर्यास है यह। यह सामान्य विपर्यास नहीं है। वह 'ज्ञाता नहीं है।' 'वह तो क्रोधमें तन्मय है (क्रोधका) ज्ञाता नहीं है।' उसे कदाचित् तीव्र कषायके अंशरूप क्रोध उत्पन्न हो, कभी अप्रशस्त हो, कभी प्रशस्त भी हो। ऐसे द्वेषके प्रकार आये। द्वेषका (प्रकार) है। तो भी उस परिणामका वह ज्ञाता है। उससे भिन्न ज्ञानमें स्थित है। वह क्रोधमें नहीं खड़ा है, ज्ञानमें खड़ा है। क्रोधमें अतन्मयरूपसे वर्तता है, ज्ञानमें तन्मयरूपसे वर्तता है। ऐसा है।

क्रोधके अंशमें निर्लेप है और ज्ञानमय भावमें, आत्मभावके रसमें वह बराबर अलौकिक प्रकारसे उस रसमें आया है। तब जाकर भिन्नता रहती है। एक ही अवस्थामें दो अंश उत्पन्न हो और उसीके अंशसे भिन्न

अनुभव करे, उसका रस कितना? समझना चाहे तो भी मुश्किल पड़े उसे। एक ही जीवके उसीके परिणाममें दो विरुद्ध भाव होते हैं, क्रोधादि भाव उत्पन्न हो और फिर भी उससे भिन्न ज्ञानमय हूँ, ऐसे अनुभवभावरूप परिणामे। कहनेकी बात नहीं है, कहनेमात्र नहीं है। उसका उस ज्ञातृत्वका रस कितना है कि जिससे, उसकी अवस्थामें होनेपर भी भिन्न पड़ा जाता है। कितना रस है, कितना रस है और कितना पुरुषार्थ है! ऐसा लेना है। वह तीव्र पुरुषार्थ है, अनंत पुरुषार्थ है उसके पीछे। लेकिन ट्राय तो करे। पुरुषार्थ न हो तो मालूम तो पड़े।

जो रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। तुझे ज्ञान तो होता है न। ज्ञान तो है कि नहीं? कि यह क्रोध हुआ। ज्ञानके बिना तो मालूम नहीं पड़ता। तो तेरा ज्ञान मौजूद है, क्रोध भी होता है, अब, मैं क्रोधरूप नहीं हूँ, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे अनुभवमें आनेका प्रयत्न तो कर तो समझमें आये कि इसमें कितने पुरुषार्थका प्रकरण है, कितने पुरुषार्थमें आनेके बाद होता है, कितना स्वरूपरसमें लीन होनेपर वह प्रकार उत्पन्न होता है। यह प्रयत्न करे तो समझमें आये ऐसा है। प्रयत्न करे नहीं तब तक प्रयत्नका विषय कितना और कैसा है, यह कहाँसे समझमें आये? समझमें आये ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु :— सबमें ऐसा लागू पड़ता है, क्रोध, मोह, लोभ?

पूज्य भाईश्री :— सब दोषमें ऐसे ही। क्रोध तो दृष्टांतरूपसे है। राग, द्वेष, मोह, चारित्रका मोह है। वहाँ दर्शनमोह नहीं है। क्रोध भी चारित्रका दोष है, राग भी चारित्रका है, द्वेष भी चारित्रका दोष है। दर्शनमोहका दोष धर्मात्माको नहीं होता। जो भिन्न पड़ता है ऐसे धर्मीको चारित्रमोहका दोष है अविरत सम्यग्दृष्टिको। देशविरतिको उसके प्रमाणमें कम हुए हैं। सर्वविरति मुनिको सावद्य प्रकारके कोई दोष नहीं होते। होते हो तो वह मुनि नहीं होते। भूमिकाके बाहरका है इसलिये।

परसों के गुजरात समाचारमें आया था। एक साधु 'बावळा' गाँवके पास ७२ जिनालय बंधवाते हैं। श्वेतांबरके साधु। कितने? एकसाथ ७२। करोड़ोंका खर्च करके। ७२ है न। तीन चौबीसी, तीन चौबीसीके। भूतकालकी अंतिम चौबीसी, वर्तमानमें चालू हुई, ऋषभदेव भगवानसे महावीर पर्यंतकी उसके पहलेकी और भविष्यमें होगी वह। वहाँ तीनकी स्थापना होगी। यद्यपि उसमें ऐसा कुछ लिखा नहीं था, ये तो ७२ की संख्या है इसलिये कहा। ऐसा कहते हैं कि, पद्मावती स्वप्नमें आयी है और कहा है कि तू यह कर। मैं तुझे प्रेरणा देती हूँ। जो दान देनेवाले हैं उसे मैं प्रेरणा करूँगी। पद्मावती स्वप्न में आयी थी। तो कहा कि, मेरी इतनी हैसियत कहाँ है? अरे, लेकिन मैं हूँ न। तुझे मैं प्रेरणा करती हूँ और दान देनेवालेको भी प्रेरणा करूँगी। एक व्यक्तिने ज़मीन दी है। ज़मीन दी है, उसके बाद यह प्रसिद्ध किया है। स्वप्न तो थोड़े महिने पहले आया है। लेकिन अभी पालीताणामें दान देनेवालेमें से कोई आया होगा, उसके बाद यह बात प्रसिद्ध की है। अखबारमें फोटो और सब विस्तार आया था। मुनि हो वह सावद्य योगकी प्रवृत्ति करते नहीं। मंदिर बाँधना, बंधवाना, अनुमोदना करनी, मुनिकी भूमिकाके बाहरकी बात है।

मुमुक्षु :— ...

पूज्य भाईश्री :— हाँ, उत्कृष्ट श्रावक है उसको भी यह नहीं होता। इतना आरंभ और समारंभ उत्कृष्ट श्रावकको नहीं होता। मुनिको होनेका तो सवाल ही नहीं है। उत्कृष्ट श्रावकको भी देशविरतिको वह नहीं होता। नीचे होता है।

मुमुक्षु :— पद्मावती प्रेरणा करे?

पूज्य भाईश्री :— ना रे ना। सब भ्रमणा है। वह सब भ्रमणा है। विचार चलते रहते हो इसलिये ऐसा स्वप्न आये। बहुत विचारका घोलन चल गया हो तो स्वप्नमें आये। लेकिन दूसरे सब भ्रमणावाले होते हैं उसके सम्बन्धी? उसमेंसे किसीको गुप्तरूपसे बात की

होगी। उसको क्या प्रेरणा करने जाये? उसका ऐसा कहे कि मुझे ऐसा स्वप्न आया है और तेरा कल्याण हो जायेगा। उसमें फिर ऐसा लिखा है कि, जो-जो तेरी मदद करेगा उन सभीका कल्याण हो जायेगा। यह अखबारमें लिखा है। जो लोभी होते हैं वह, ऊड़-ऊड़कर पतंगकी भाँति गिरते हैं, कल्याणकी लालसासे। समझमें आया? यह सब स्पष्ट धोखेबाजी है। करे, करवाये, स्वयं दूसरेको बात करे और कहे कि हमें सामनेसे चलाकर कहा। यह सब देखा है, सब पोलकी खबर है। अन्दरसे पहलेसे ही कहला दे कि आप ऐसा करना। घोषणा ऐसी करे कि हमें कहा इसलिये (किया)। हम यह सबकुछ नहीं करते। वह तो हमारे पास सामनेसे चलाकरके आये थे, चलाकर आये थे। बातमें कोई दम नहीं होता। यह सब प्रकार बहुत माया-कपटके मान लेनेके लिये उत्पन्न होते हैं। इसके पीछे आशय यह होता है कि फलाना ऐसा करते हैं तो हम ऐसा करते हैं। वह ऐसा करते हैं तो हम ऐसा करते हैं। ऐसी सब अन्दर स्पर्धा, दाणापीठ के व्यापारीमें स्पर्धा होती है, तेलवालेको तेलकी और शक्करवालेको शक्करवालेकी, किरानेवालेको किरानेवालेकी, मिलवालेको मिलकी। इसप्रकार यह सब व्यापार चलता है। उसने तीन जिनालय बंधवाये तो मैं पाँच बंधवाता हूँ, तो तीसरा कहता है, मैं दस बंधवाता हूँ, दूसरा कहे, मैं पच्चीस बंधवाता हूँ, बहत्तर बंधवाता हूँ। स्पर्धामें चढ जाते हैं। उसमें दूसरा कुछ नहीं है। दूसरेसे अधिक मान मिले। वह सब प्रकार संसारके है। उसमें कहीं मोक्षमार्गका अंश भी नहीं है। यहाँ थोड़ी विपरीतता नहीं है, अपितु व्यापक विपरीतता है। यह प्रकार है।

यहाँ तो कहते हैं कि सिद्धांत सुनकर भी उस सिद्धांतकी जो गंभीरता है, वीतरागताका मूल जिसमें पड़ा है उस वीतरागताके मूल का मूल्य करना, उसकी कीमत करना। उसका अवमूल्यन हो ऐसा कुछ नहीं होना चाहिये। करते हैं न, रूपये का अवमूल्यन करते हैं न?

रूपयेका होता है, सिद्धांतका नहीं होता, ऐसा कहते हैं। भले ही पूरी दुनियाको पैसे की क्रीमत हो, डॉलरकी क्रीमत हो, पाउण्ड, स्टर्लिंगकी क्रीमत हो, उन सबका अवमूल्यन हो। सिद्धांतका तो तीनों कालमें किसीको अवमूल्यन करनेका अधिकार नहीं है। कोई भी जीव क्यों न हो। सिद्धांतका अवमूल्यन करनेका किसीको अधिकार नहीं है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके कारण अवमूल्यन करना यह वीतरागसे विरुद्ध जानेकी बात है। वीतरागताके मार्गको लूटनेकी बात है वास्तवमें तो। यह चल नहीं सकता। उसका मार्गमें प्रवेश नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि 'जो ज्ञानमें तन्मय है...' जो ज्ञानमय स्वभावमें, ज्ञानके स्वसंवेदनमें तन्मय होकर, अभेद होकर ज्ञानमें ज्ञानका वेदन करता है, वह ज्ञानके रंगमें रंगा हुआ है। ज्ञानीके सर्व परिणाम ज्ञानमय हैं। क्रोध उत्पन्न हुआ है तब भी, उसके परिणाम ज्ञानमय हैं कि यह क्रोध करने योग्य नहीं है और आत्माको लाभका कारण नहीं है, किन्तु नुकसानका कारण है ऐसा उस कालमें जानता है। शुभ परिणाम हो तब भी वह जानता है कि यह शुभभाव है। रागरूपी, कषायरूपी मलिन परिणाम है, आत्माको हितकर नहीं है। ऐसा ज्ञान, व्यवहारके परिणाम हो तब व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्रके व्यवहार रत्नत्रयके परिणाम हो तब भी उसे जाना हुआ प्रयोजनवान है। ऐसा लिया कि नहीं? इस प्रकार प्रयोजनको साधता है कि यह परिणाम है वह आत्मासे भिन्न है और आत्माको हितकर नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूपी हूँ और इस परिणामस्वरूप नहीं हूँ, ऐसा जो ज्ञान, इसलिये ऐसा परिणामन ज्ञानमय परिणामन है। उसके सर्व परिणाम ज्ञानमय हैं और रागादिमय या क्रोधमय नहीं है।

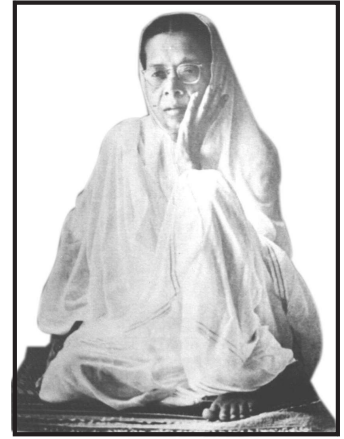
वह, वास्तवमें 'वही क्रोधके परिणामका ज्ञाता है।' एकमेक नहीं होता, तन्मय नहीं होता। 'वही क्रोधके परिणामका ज्ञाता है।' उसकी उपेक्षा करता है तब

ज्ञाता है। अपेक्षा करके ज्ञाता रहता है, (ऐसी) दो बात नहीं है। उपेक्षा करता है उसके प्रति। इसलिये वर्तमानमें वह उदयभाव अशक्तरूपसे होता है। उसकी शक्ति काम नहीं करती। वहाँ कषायकी कषायशक्ति नहीं है। वह ऐसा कषाय है कि जिसकी कषायशक्ति टूट गयी है, ऐसा वह कषाय है। कषाय निर्बल होता हुआ, निर्जरता-निर्जरता नाशको प्राप्त होता है। कषाय है वह, वहाँ निर्बल होता हुआ और जर्जरित होता हुआ निर्जरित होता है। यह वस्त्र जर्जरित हो जाता है न। देह जर्जरित होता है, वस्त्र जर्जरित होता है। उसमें फिर शक्ति नहीं होती। जो जर्जरित हो उसमें शक्ति नहीं होती। धोकर निचोड़े तो फटने लगे। क्योंकि जर्जरित है। उसके धागेमें शक्ति नहीं रही। ऐसा यह जर्जरित हुआ कषाय है। इसप्रकार वह क्षयके प्रति, कषायके क्षय प्रति जाती हुई कषायकी परिणति है। और आत्माकी परिणति अपने ध्येयकी पूर्णताके प्रति जाती हुई परिणति है। इसप्रकार दोनोंकी लाईन बदल गयी है, दोनों धाराकी। उसे ऐसा कहनेमें आता है कि वह ज्ञाता है, कर्ता नहीं है। करता है फिर भी करता नहीं, बोलता है फिर भी बोलता नहीं, खाता है फिर भी खाता नहीं। इसमें आता है, भागवतमें यह विषय आता है।

श्रीकृष्ण, दुर्वासाने उपवास किया, तो कहते हैं कि नहीं, उसने आहार किया है। श्रीकृष्णने आहार किया, तो कहते हैं कि, नहीं वह उपवासी है। ठीक! सोलह हजार ऐकसौ आठ रानियाँ है। वासुदेव है न। तो कहते हैं, ब्रह्मचारी है। ठीक! ये क्या है? अन्दरमें भिन्न हो गये हैं। ऐसा लेना है। साधकदशामें अन्दरकी जो भिन्नता है उसे, बोलता है फिर भी बोलता नहीं, ऐसा कहनेमें आता है और चलता है फिर भी चलता नहीं ऐसा कहनेमें आता है। इसप्रकार क्रोधका ज्ञाता है।

(प्रवचन का शेष अंश अगले अंकमें...)

**पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा**  
**मंगल वाणी-सी.डी. ८-B**



मुमुक्षु :- हमें तो आप गुरु सच्चे मिलने के बाद जिज्ञासा जागृत हुई है, तो इन दोनों को कैसे मेल करना, यह कृपा करके समझाईये।

समाधान :- सच्ची जिज्ञासा जागृत हो तो गुरु मिले ही। अपनी भावना हो तो वैसा निमित्त बने। लेकिन जिज्ञासा तैयार नहीं थी और गुरु मिले, ऐसा भी बनता है। ऐसे पूर्व के पुण्य के कारण अपनी तैयारी नहीं थी तो भी गुरु मिले। यह तो महाभाग्य की बात है कि पूर्व के पुण्य के कारण गुरु मिले, स्वयं की तैयारी नहीं थी तो भी। तो खुद को तैयारी करनी बाकी रहती है।

किसीको ऐसा भी बनता है कि गुरु मिले और अपनी जिज्ञासा जागृत हो और कोई स्वयं अन्दरसे विचारकर गुरु की खोज में हो, गुरु कहाँ मिलेंगे? कहाँ मिलेंगे? ऐसे हृदय में उतनी भावना होती है तो उसे उस प्रकार के पुण्य का सम्बन्ध हो जाता है कि उसे गुरु मिले बिना रहे ही नहीं। ऐसा उपादान-निमित्त का सम्बन्ध बन जाता है। यदि तेरी सच्ची भावना और जिज्ञासा है तो तुझे गुरु मिले बिना रहेंगे ही नहीं। लेकिन किसीको ऐसा भी बनता है कि स्वयं की कोई तैयारी नहीं थी फिर भी पूर्व पुण्य के कारण गुरु मिल जाते हैं। छोटे-छोटे बालक हों, उन सब को कुदरती ही गुरु मिल गये। क्योंकि पूर्व के पुण्य ऐसे लेकर आता है, फिर खुद को तैयारी करनी बाकी रहती है।

किसीको गुरु मिले और जिज्ञासा जागृत होती है। किसीको अपनी जिज्ञासा तैयार होती है और गुरु मिलते हैं। ऐसा होता है। कोई तो (ऐसे होते हैं) गुरु मिले तो भी खुद तैयारी करता नहीं, ऐसे भी होते हैं। सहज ही गुरु मिले, पूर्व के पुण्योदयसे महाभाग्यसे गुरु मिले, अब तू तैयारी कर, तू पुरुषार्थ कर।

मुमुक्षु :- माताजी! आलोचना अधिकार में समताभाव आता है। हमारे प्रेमचंदभाई पूछते थे, समताभाव का अर्थ सबको समान मानना यह है? माताजी! आप स्पष्ट कीजिये।

समाधान :- समताभाव यानी सबको समान मानना। द्रव्यदृष्टिसे सब आत्मा हैं, सिद्ध भगवान है। किसीपर राग-द्वेष नहीं करना। लेकिन खुद ज्ञान तो करे गुण-दोष का। कितने गुण किसे प्रगट हुए हैं, नहीं हुए हैं। फिर राग-द्वेष में रुके नहीं, लेकिन उसका ज्ञान तो होता है। सत्य-असत्य का विवेक तो होता है। सत्य क्या है, असत्य क्या है? गुरु कौन है? सच्चे गुरु कौन हैं? सच्चे देव कौन हैं? सब परीक्षा उसे (होती है)। सच्चे शास्त्र कौन है? सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु, सच्चे देव की परीक्षा करे और खोटे कुदेव-कुगुरु को माने नहीं, उसका आदर-सत्कार करे नहीं। खुद को आदर-सत्कार देव-गुरु-शास्त्र पर आता है। इसका मतलब यह नहीं है कि उसे राग-द्वेष है, वह तो सच्चा विवेक करता है।

सबको समान मानना अर्थात् सब देव सच्चे नहीं हो तो भी उसे देव मान लेना, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। जिसकी जिस प्रकार की भूमिका है उतना सत्य ज्ञान करना। सत्य ज्ञान के बिना तो गलत हो जाये। खुद को अन्दरसे मार्ग मिले नहीं। द्रव्यदृष्टिसे सब समान हैं। लेकिन किसे किसप्रकार के अन्दर गुण प्रगट हुए हैं उसे समझे। सच्चे शास्त्र-वीतरागी शास्त्र क्या है? उसमें क्या आता है? दूसरे सब शास्त्र का विवेक करता है। सब समान मानना ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

द्रव्यदृष्टिसे समान हैं, पर्याय में फर्क पड़ता है। खुद गुणी को देखकर आदर करता है तो खुद को गुण का आदर है। जिसे साधक दशा प्रगट हुई, पूर्णता प्रगट हुई, स्वयं को गुण का आदर है। जिसे गुण प्रगट नहीं हुए तो दोष का आदर है। जो स्वयं कुछ नहीं समझते, एकत्वबुद्धि में पड़े हैं, भ्रान्ति में पड़े हैं उनका आदर करना ऐसा कुछ शास्त्र में नहीं आता और वह न्याय भी नहीं है। उसमें खुद को कुछ लाभ का कारण नहीं है। उसे राग-द्वेष नहीं कहते।

मुमुक्षु :- उसे ज्ञान की मूढ़ता कह सकते हैं?

समाधान :- जो नहीं समझता है उसे मूढ़ता कहते हैं। उसमें तो सच्चा विवेक प्रगट हुआ है।

मुमुक्षु :- पर्याय का विवेक तो होना चाहिये।

समाधान :- पर्याय का विवेक तो होना चाहिये, नहीं तो ज्ञान की मूढ़ता है। सब समान जहाँ भी हो, अपने कुछ समझते नहीं। सब को नमन करो। वह कोई विवेक नहीं है। नमन करने का कारण स्वयं को लाभ हो, खुद को गुण का आदर है।

मुमुक्षु :- राग-द्वेष करना वह अलग बात है, लेकिन उसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञान में मूढ़ता अथवा पर्याय का विवेक नहीं होता।

समाधान :- विवेक नहीं करना ऐसा उसका अर्थ नहीं है। समभाव रखे। जिस कोटि में हो उसे समझे, उसपर द्वेष नहीं करता। लेकिन जो दोष में है तो दोष को दोष समझे, गुण को गुण समझे। उसपर उत्साह आये अथवा उसका आदर आये, ऐसा कुछ नहीं होता। परीक्षा नहीं हो तो, खुद को आत्मा में आगे जाना है, आत्मा का स्वभाव पहचानना है। जिसे प्रगट हुआ है उनसे ही समझ में आता है। जो समझते नहीं उनसे कुछ समझ में नहीं आता, वह समझने का निमित्त नहीं बनता। जिसे सत्य प्रगट हुआ है वही निमित्त बनता है। इसलिये स्वयं को समझने हेतु सत् को पहचान लेना (कि) सत्पुरुष कौन है?

अन्दर विवेक करना रहता है कि ज्ञानस्वभाव क्या है? ज्ञायक कौन है? ये विभाव क्या है? ये पर्याय क्या है? अंतर में समझना रहता है। ऐसे ही बिना समझे अपने में समभाव रखो (ऐसा नहीं चलता)। अंतर में कौन आत्मा है? क्या पर्याय है? क्या विभाव है? क्या प्रगट करना है? मोक्षमार्ग क्या है? अंतर में समझना रहता है और देव-गुरु-शास्त्र में समझना रहता है। अंतर में अपनी पर्याय का विवेक करना होता है। ये पर्याय क्या है? द्रव्य क्या है?

मुमुक्षु :- निमित्त के विवेक की बात आयी, अन्दर में विकारी भाव का भी विवेक आया और अपने स्वरूप सम्बन्धी भी उसे विवेक होना चाहिये।

समाधान :- हाँ, विवेक होना चाहिये। निमित्त का विवेक, अंतर में विवेक, विभाव-स्वभाव को भिन्न करना है, अन्दर द्रव्य आश्रय कहाँ लेना है? पर्याय में साधना करनी है, यह सब समझना रहता है।

मुमुक्षु :- और असत्य में आदर और उत्साह आये तो जीव को वास्तविकरूपसे तो मूढ़ता है।

समाधान :- मूढ़ता है। उसे आगे जाने का कारण नहीं बनता। बाहर में ऐसा लगे, यह कैसा समभाव रखता है? दिखने में ऐसा लगता है। लेकिन वह आत्मा को हितरूप नहीं है।

मुमुक्षु :- माताजी! गुरुदेवश्री के वचनमृत में आता है कि पर्यायदृष्टिसे संसार है और द्रव्यदृष्टिसे मोक्ष और वीतरागता है, तो क्या पर्यायदृष्टि में इतनी बड़ी सजा है? आरिया के चोर को फाँसी की सजा?

समाधान :- ऐसा नहीं है। पर्यायदृष्टिसे संसार है। आरिया के चोर को फाँसी की सजा नहीं है। अनादिकालसे पर्यायपर ही दृष्टि रखी है। पर्याय एक के बाद एक प्रतिक्षण पलटती है, उसपर ही दृष्टि है। जो शाश्वत द्रव्य है उस द्रव्य

को पहचाना नहीं। द्रव्य पर दृष्टि नहीं है। इसलिये संसार है। पर्यायपर दृष्टि है वही संसार है। आरिया का चोर नहीं है, बड़ी भ्रान्ति, बड़ा दोष है। समझे बिना भ्रान्ति में पड़ा बड़ा दोष है। पर्यायदृष्टि यानी छोटा दोष है ऐसा नहीं है, बड़ा दोष है। पूरे द्रव्य को भूल गया है। अपना स्वरूप जो मूल वस्तु, जो राजा है उसको भूल गया है और बाहर जो ऊपर-ऊपर पर्याय होती है उसे ग्रहण की है। वह बड़ा दोष है। अपना स्वभाव जो है, महिमावंत स्वभाव है उसे भूलकर, उसे छोड़कर पर्याय की ओर बाहर भटकता है, बड़ा दोष है। अपना स्वधर छोड़कर बाहर भटकता है वह बड़ा दोष है। थोड़ा दोष नहीं है, बड़ा दोष है।

स्वभाव-धर को छोड़कर अपने स्वभाव की महिमा छोड़कर उसे पहचाने बिना भ्रान्ति के कारण बाहरसे सब (मानता है), मानो मेरा ज्ञान बाहरसे आता है, मेरा सुख बाहरसे आता है, सब बाहरसे आता है। बाहरसे सब लेने जाता है। परद्रव्य में मैं हूँ, ऐसी बुद्धि करता है वह बड़ा दोष है।

मुमुक्षु :- माताजी! पर्याय को अपनी मानता है, पर्याय तो अपना ही अंश है, तो फिर उसे क्यों इतना..?

समाधान :- अपना अंश है लेकिन उस विषय में बाह्य पदार्थ प्रति एकत्वबुद्धि करता है, उसका आश्रय परद्रव्य की ओर जाता है। अपनी पर्याय है लेकिन विभाविक पर्याय है, स्वभावपर्याय कहाँ है? और उसकी दृष्टि में बाह्य पदार्थों में स्वयं आत्मबुद्धि करता है। मानो यह सब शाश्वत है, परद्रव्य पर आरोप करता है, उसकी भूल बड़ी है। पर्याय अपनी होने के बावजूद उसके आश्रय में परद्रव्य है, स्वद्रव्य नहीं है, परद्रव्य का आश्रय कर रहा है। पर्याय अपनी यानी स्वभावपर्याय अपनी है। यह पर्याय अपनी है लेकिन भ्रान्ति है, जूठ है, बड़ा दोष है।

मुमुक्षु :- वह पर्याय स्वयं भ्रान्तिरूप हो गई है।

समाधान :- भ्रान्तिरूप हो गई है, जूठ है। जो स्वभाव है उससे असत्य है। आम का स्वभाव पहचाना नहीं है.. और उसे क्या कहते हैं? आकोलिया। आकोलिया में मानों सबकुछ है, ऐसा मान लिया है। सब जूठा ही है, विपरीत ही हो गया है। बिल्कुल जूठा, बड़ी भ्रान्ति है। स्वद्रव्य और परद्रव्य, पूरी दिशा ही अलग है। परद्रव्य को अपना माना, पर में ज्ञान माना, पर में सुख माना, सबकुछ पर में ही माना है। पर के आश्रयसे सुख। पर चला जाये तो दुःख, सब गलत है। सब बात मूलमेंसे ही सब असत्य है।

मुमुक्षु :- एकान्त पर्याय मानता है उसे पर का ही आश्रय होता है।

समाधान :- पर का ही आश्रय है। सब गलत है।

मुमुक्षु :- द्रव्यदृष्टि हुए बिना पर्याय का आश्रय छूटता नहीं।

समाधान :- द्रव्यदृष्टि प्रगट करे तो पर्याय का आश्रय छूटे और पर्याय का आश्रय जिसे छूटे उसे द्रव्यदृष्टि प्रगट होती है। लेकिन द्रव्य पर दृष्टि करे तो ही पर्यायदृष्टि छूटती है। मुख्य द्रव्य की ओरसे लेना। द्रव्यदृष्टि हो तो पर्यायदृष्टि छूटे। फिर पर्याय रहती है, लेकिन पर्याय की दृष्टि छूट जाती है। द्रव्य पर दृष्टि करे तो पर्यायदृष्टि छूट जाती है।

मुमुक्षु :- पर्याय का परिणमन चालू रहे तो भी पर्यायदृष्टि छूट जाये?

समाधान :- पर्याय का परिणमन चालू रहे लेकिन दृष्टि छूट जाती है। दृष्टि द्रव्य पर आ जाती है। परिणमन चालू रहता है। दृष्टि द्रव्य पर हो गई, इसलिये उसका परिणमन कुछ अंश में शुद्ध हो जाता है। कुछ अंश में विभावरूप रहता है। परिणमन चालू रहता है, लेकिन दृष्टि बदल गई। दृष्टि बदल गई, द्रव्य पर दृष्टि गई तो आंशिक परिणमन शुद्धरूप हो गया। और कुछ परिणमन अभी विभावरूप है। परिणमन चालू रहता है, दृष्टि बदल गई। दृष्टि का दोष है मूल में

तो। पर्याय तो रहती है लेकिन दृष्टि का दोष है। पर्यायदृष्टि कहते हैं न? अकेली पर्याय नुकसान नहीं करती, लेकिन अपनी दृष्टि नुकसान करती है। दृष्टि बदल गई तो फिर पर्याय की शुद्धि हुआ करती है।

दृष्टि-श्रद्धा अपनी हुई तो परिणामन का पूरा चक्र बदल गया। फिर थोड़ा बाकी रहा। पूरी दिशा बदल गई। पहले में पूरी दशा परद्रव्य की ओर थी, यह स्वद्रव्य की ओर दिशा बदल गई। दृष्टि बदल गई तो अनन्त संसार छूट गया, अब थोड़ा बाकी रहा, पूरी दिशा बदल गई।

मुमुक्षु :- माताजी! ज्ञानी के सब भाव ज्ञानमय, अज्ञानी के सब भाव अज्ञानमय। ज्ञानी का सब ज्ञानमय। दृष्टि बदल गई।

समाधान :- दृष्टि बदल गई तो सब भाव ज्ञानमय ही हैं। अज्ञानी की दृष्टि पूरी विपरीत है। जितने भी भाव हो वह सब अज्ञानमय होते हैं। उसके शुभभावों में अन्दर भ्रान्ति साथ में होती है। समझता नहीं है इसलिये हरजगह भ्रान्ति, एकत्वबुद्धि करता रहता है। जिसे सत्य समझने की जिज्ञासा हो उसकी बात अलग है, लेकिन जो कुछ नहीं समझता है इसलिये उसके तो सब भाव अज्ञानमय हैं। लेकिन यथार्थरूपसे तो जब दृष्टि बदल जाये, भेदज्ञान हो तब ही सब भाव ज्ञानमय कहलाते हैं। तबतक जिज्ञासा की भूमिका में भी सब भावों को ज्ञानमय नहीं कह सकते। क्योंकि एकत्वबुद्धि है इसलिये। उसका रस मन्द पड़ गया है। लेकिन सब भाव ज्ञानमय कब होते हैं? भेदज्ञान की धारा प्रगट हो, ज्ञाता की धारा प्रगट हो तब सब भाव ज्ञानमय होते हैं। तबतक सब भाव में एकत्वबुद्धि है, इसलिये अज्ञानमय कहे जाते हैं। एकत्व परिणति, एकत्वबुद्धि (चल रही है)। छूटने की भावना करता है लेकिन परिणति एकत्व हो रही है। पूरी दिशा अभी बदली नहीं। एक घड़ा सुलटा हो तो सब सुलटे होते हैं। एक घड़ा ऊल्टा तो सब घड़े उल्टे।

मुमुक्षु :- बीचमें आपने उसे जिज्ञासा की भूमिका में खड़ा रखा। यदि वह द्रव्यदृष्टि ग्रहण करे तो वह पलट सकता है।

समाधान :- तो पलट सकता है। यथार्थ परिणति हो तब वह सब भाव ज्ञानमय कहे जाते हैं, लेकिन अभी जिज्ञासा है और पलटने की भावना है।

\*\*\*

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (फरवरी-२०२१) का शुल्क मनीषाबहन हेमंतभाई शाह, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

(पूज्य सोगानीजीके वचनामृत...)

प्रश्न :- लेकिन अपने स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक निर्णय के लिए तो धारणा चाहिए न!

उत्तर :- धारणा सहज होती है। 'मैं धारणा कर लूँ' - यह तो बोझा उठाना है। धारणा के ऊपर तो वजन ही नहीं आना चाहिए। धारणा होनी तो चाहिए न! - ऐसा वजन नहीं होना चाहिए; सहज हो तो हो। (स्वरूप की प्राप्ति के लिए विधि-विषयक जानकारी की धारणा होती है, फिर भी ऐसी सही धारणापर वजन जानेवाले के अभिप्राय में पर्याय का आश्रय करने का अभिप्राय जो अनादि से है वह चालू रह जाता है और वह अंतर्मुखता होनेमें बाधक कारण बन जाता है।) १७७.

\*\*\*

प्रश्न :- चिंतन करना (चाहिए) क्या?

उत्तर :- चिंतन भी भट्टी-सा लगना चाहिए; वह भी दुःखभाव लगे तो वहाँसे हट सकेंगे, नहीं तो वहाँसे क्यों खिसकेंगे? मार्ग में आता है तो ठीक; किन्तु उसको दुःखभाव जानना, उसमें एकत्व नहीं करना। चिंतन भी चिंता है, आकुलता है। 'चिंतन जहाँसे उठता है.... उस भूमिमें जमे रहो।' १७८.

\*\*\*

प्रश्न :- धारणा के बिना अनुभव हो सकता है क्या?

उत्तर :- धारणा नहीं होवे और अनुभव हो जाये, यह सवाल ही नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि धारणा होनेपर भी (बिना पुरुषार्थ) अनुभव नहीं होता। धारणा में 'चैतन्यमूर्ति हूँ' - ऐसा टाँक दो, और इसी स्थल पर जम जाओ, तब अनुभव होता है। १८५.

\*\*\*

यह बात समझ में आने पर 'करूँ.... करूँ' का बोझा तो हल्का हो जाए; परंतु इस त्रिकाली-अपरिणामीभाव का अनुभव होना-यही खास बात है; यह अनुभव करो। २०१.

(पूज्य गुरुदेवश्री प्रवचन...)

कोई पकड़ नहीं सका और अन्दर रोग है, मुझे बहुत दुःख होता है... कहाँ गये जगजीवनभाई? उनकी पुत्री परसों कैरोसीन छिड़क कर जली। किसी ने परखा नहीं कि रोग क्या है?... लगा दी। जैसे लगाई ऐसे फट...फट भगवान... भगवान...। दूसरी कोई बात नहीं। अरिहन्त... अरिहन्त... अरिहन्त... णमो अरिहन्ताणं... जली, जलकर यहाँ शरीर सुलगाता है, भबका... भबका इस प्रकार के भाव आये। हो गया... फिर विचार बदले। यह तो परिणामों की विचित्रता है। रोग नहीं पकड़ सके, लो! मुम्बई बताया, दूसरी जगह बताया, अनुमान करते हैं, यह सब डॉक्टर अनुमान करते हैं। प्रयोग करते हैं, करते-करते एक दो का ख्याल में (आवे तो) दूसरों को भी लगा देते हैं, तुम्हारे भी ऐसा लगता है।

मुमुक्षु : खून की जाँच करते हैं।

उत्तर : खून की जाँच करे तो भी कितना अन्तर पड़ेगा? यह कहते हैं, खून की जाँच करते हैं। यह जाँच न, यह कहते हैं। तेरे आत्मा में तेरा खून-कितनी ताकत है। तुझमें अनन्त बल है, समझ में आया? आहा...हा...! पेशाब की जाँच करते हैं, पेशाब की क्या जाँच करते हैं? पेशाब राग है। समझ में आया? जाँचे कि राग विकार दुःखरूप है, चाहे तो शुभ हो या चाहे तो अशुभ हो; दोनों राग रोग है। ऐसे सम्यग्दृष्टि को अपनी नाड़ी पकड़कर निरोगता कैसे करना, इसका उसे पता पड़ता है। समझ में आया?



हरिके प्रति अखण्ड लयरूप वैराग्य जितना चाहिये उतना क्यों वर्धमान नहीं होता ? इसका जो कुछ कारण समझमें आता हो सो लिखियेगा।

हमारे चित्तकी अव्यवस्था ऐसी हो जानेके कारण किसी काममें जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं रहता, स्मृति नहीं रहती, अथवा खबर भी नहीं रहती, इसके लिये क्या करना ? क्या करना अर्थात् व्यवहारमें रहते हुए भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दुःखरूप नहीं होनी चाहिये, और हमारे आचार ऐसे हैं कि कभी वैसा हो जाता है। दूसरे किसीको भी आनंदरूप लगनेमें हरिको चिन्ता रहती हैं, इसलिये वे रखेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता करनेका है, ऐसा मानते हैं; तथा दूसरे किसीको संतापरूप होनेका तो स्वप्नमें भी विचार नहीं है। सभीके दास हैं, तो फिर दुःखरूप कौन मानेगा ? तथापि व्यवहारप्रसंगमें हरिकी माया हमें नहीं तो दूसरेको भी कोई और ही आशय समझा दे तो निरुपायता है, और इतना भी शोक रहेगा। हम सर्व सत्ता हरिको अर्पण करते हैं, की है। अधिक क्या लिखें ? परमानंदरूप हरिको क्षण भर भी न भूलना, यह हमारी सर्व कृति, वृत्ति और लिखनेका हेतु है।

\*\*\*

२४८

बंबई, वैशाख वदी ८, रवि, १९४७

ॐ नमः

किसलिये कंटाला आता है, आकुलता होती है ? सो लिखें। हमारा समागम नहीं है, इसलिये ऐसा होता है, यों कहना हो तो हमारा समागम अभी कहाँ किया जा सकता है ? यहाँ करने देनेकी हमारी इच्छा नहीं होती। अन्य किसी स्थानपर होनेका प्रसंग भवितव्यताके योगपर निर्भर है। खंभात आनेके लिये भी योग नहीं बन सकता।

पूज्य सोभागभाईका समागम करनेकी इच्छामें हमारी अनुमति है। तथापि अभी उनका समागम करनेका आपके लिये अभी कारण नहीं हैं; ऐसा जानते हैं।

हमारा समागम आप (सब) किसलिये चाहते हैं, इसका स्पष्ट कारण बतायें तो उसे जाननेकी अधिक इच्छा रहती है।

‘प्रबोधशतक’ भेजा है, सो पहुँचा होगा। आप सबके लिये यह शतक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है। यह पुस्तक वेदांतकी श्रद्धा करनेके लिये नहीं भेजी है, ऐसा लक्ष्य सुननेवालेका पहले होना चाहिये। दूसरे किसी कारणसे भेजी है, जिसे प्रायः विशेष विचार करनेसे आप जान सकेंगे। अभी आपके पास कोई वैसा बोधक साधन नहीं होनेसे यह शतक ठीक साधन है, ऐसा मानकर इसे भेजा है। इसमेंसे आपको क्या जानना चाहिये, इसका आप स्वयं विचार करें। इसे सुननेपर कोई हमारे विषयमें यह आशंका न करे कि इसमें जो कुछ आशय बताया गया है, वह मत हमारा है; मात्र चित्तकी स्थिरताके लिये इस पुस्तकके बहुतसे विचार उपयोगी हैं, इसलिये भेजी है, ऐसा मानना।

श्री दामोदर और मगनलालके हस्ताक्षरवाला पत्र चाहते हैं ताकि उसमें उनके विचार मालूम हों।

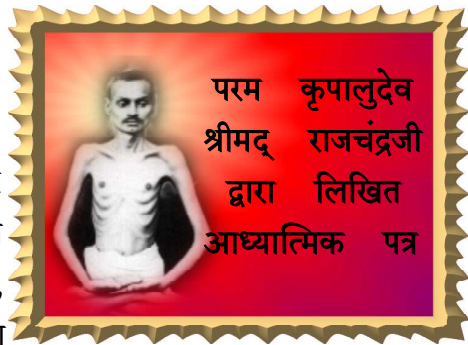
\*\*\*

२४७

बंबई, वैशाख वदी ८, रवि, १९४७

हरिके प्रतापसे हरिका स्वरूप मिलेंगे तब समझायेंगे(!)

उपाधियोग और चित्तके कारण कितना ही समय सविस्तार पत्रके बिना व्यतीत किया है, उसमें भी चित्तकी दशा मुख्य कारणरूप है। आजकल आप किस प्रकारसे समय व्यतीत करते हैं सो लिखियेगा, और क्या इच्छा रहती है? यह भी लिखियेगा। व्यवहारके कार्यमें क्या प्रवृत्ति है, और तत्संबंधी क्या इच्छा रहती है? यह भी विदित कीजियेगा, अर्थात् वह प्रवृत्ति सुखरूप लगती है क्या? यह भी लिखियेगा।



चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; जिससे व्यवहारके सभी कार्य प्रायः अव्यवस्थासे करते हैं। हरीच्छाको सुखदायक मानते हैं। इसलिये जो उपाधियोग विद्यमान है, उसे भी समाधियोग मानते हैं। चित्तकी अवस्थाके कारण मुहूर्त्मात्रमें किये जा सकनेवाले कार्यका विचार करनेमें भी पखवारा बिता दिया जाता है और कभी उसे किये बिना ही जाने देना होता है। सभी प्रसंगोंमें ऐसा हो तो भी हानि नहीं मानी है; तथापि आपसे कुछ कुछ ज्ञान वार्ता की जाय तो विशेष आनंद रहता है; और उस प्रसंगमें चित्तको कुछ व्यवस्थित करनेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उस स्थितिमें भी अभी प्रवेश नहीं किया जा सकता। ऐसी चित्तकी दशा निरंकुश हो रही है, और उस निरंकुशताके प्राप्त होनेमें हरिका परम अनुग्रह कारण है ऐसा मानते हैं। इसी निरंकुशताकी पूर्णता किये बिना चित्त यथोचित समाधियुक्त नहीं होगा ऐसा लगता है। अभी तो सब कुछ अच्छा लगता है, और सब कुछ अच्छा नहीं लगता, ऐसी स्थिति है। जब सब कुछ अच्छा लगेगा तब निरंकुशताकी पूर्णता होगी। यह पूर्णकामता भी कहलाती है, जहाँ हरि ही सर्वत्र स्पष्ट भासता है। अभी कुछ अस्पष्ट भासता है; परन्तु स्पष्ट है ऐसा अनुभव है।

जो रस जगतका जीवन है, उस रसका अनुभव होनेके बाद हरिमें अतिशय लय हुआ है, और उसका परिणाम ऐसा आयेगा कि जहाँ जिस रूपमें चाहें उस रूपमें हरि....आयेंगे, ऐसा भविष्यकाल ईश्वरेच्छाके कारण लिखा है।

हम अपने अंतरंग विचार लिख सकनेमें अतिशय अशक्त हो गये हैं; जिससे समागमकी इच्छा करते हैं; परन्तु ईश्वरच्छा अभी वैसा करनेमें असम्मत लगती है; जिससे वियोगमें रहते हैं।

उस पूर्ण स्वरूप हरिमें जिसकी परम भक्ति है, ऐसा कोई भी पुरुष वर्तमानमें दिखायी नहीं देता, इसका क्या कारण होगा? तथा ऐसी अति तीव्र अथवा तीव्र मुमुक्षुता किसीमें देखनेमें नहीं आयी इसका क्या कारण होगा? क्वचित् तीव्र मुमुक्षुता देखनेमें आयी होगी तो वहाँ अनंतगुणगंभीर ज्ञानावतार पुरुषका लक्ष्य क्यों देखनेमें नहीं आया होगा? इस विषयमें आपको जो लगे सो लिखियेगा। दूसरी बड़ी आश्चर्यकारक बात तो यह है कि आप जैसोको सम्यग्ज्ञानके बीजकी, पराभक्तिके मूलकी प्राप्ति होनेपर भी उसके बादका भेद क्यों प्राप्त नहीं होता? तथा